उत्तर और मध्य भारत में द्विज-हिंदुत्व गोलबंदी के मायने

उर्मिलेश

मण्डल-कमण्डल के उबलते दौर के लगभग ढाई दशक बाद उत्तर और मध्य भारत में एक बार फिर ज़बर्दस्त द्विज-गोलबंदी देखी जा रही है। सत्ता-संरचना, अर्थतंत्र, नौकरशाही, मीडिया और अन्य बौद्धिक संस्थानों पर लगभग सम्पूर्ण वर्चस्व के चलते हमारे समाज में आम तौर पर द्विज-गोलबंदी या द्विजों के जातिगत आंदोलनों की नौबत नहीं आती है। बीते तीन-चार दशकों का हिसाब लें तो द्विज समुदाय के लोग सड़कों पर तभी आये हैं, जब विभिन्न कारणों से सरकारों की तरफ़ से दलित-आदिवासी या अन्य पिछड़े वर्गों (ओबीसी समाजों) के पक्ष में कुछ सहूलियतों या सकारात्मक कार्रवाई के तहत सरकारी सेवाओं में उनकी हिस्सेदारी बढ़ाने जैसे क़दमों का ऐलान हुआ है।

1990 में विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार द्वारा मण्डल आयोग की सिफ़ारिशों की मंजूरी के ऐलान के बाद पूरे उत्तर और मध्य भारत में द्विज समुदाय के कुछ लोगों ने बवाल मचा दिया था। शुरू में विरोध उतना बड़ा और व्यापक नहीं था पर मीडिया और कुछ सियासतदानों के खुले और नौकरशाही के छुपे समर्थन के चलते उसने बड़ा रूप ले लिया। कुछ राजनीतिक दलों ने भी उस आग में अपनी सियासी रोटियाँ सेकीं। लेकिन 2017-18 के बीच उत्तर और मध्य भारत में जिस तरह की आक्रामक द्विज गोलबंदी देखी जा रही है, वह पहले से कई मायने में अलग है। प्रदर्शनों, सम्मेलनों, बंद और धरना-अनशन आदि का आयोजन खुले आम ब्राह्मण-सभा या द्विज-समाज के बैनर तले किया जा रहा है। इन समुदायों के साधारण आय वाले परिवारों के युवाओं को ख़ास तौर पर बताया जा रहा है कि उनकी बेरोज़गारी, पसंद की नौकरी न मिलने या इस तरह की किसी भी अन्य समस्या के लिए सिर्फ़ दलित-ओबीसी ज़िम्मेदार हैं। उनके आरक्षण के चलते उच्च वर्ण के युवाओं को नौकरियाँ नहीं मिल पा रही हैं। इस तरह के झूठे और जहरीले दुष्प्रचार से प्रभावित युवक यह सोचने की कोशिश

भी नहीं करते कि उत्तर और मध्य भारत के राज्यों में ज़्यादा से ज़्यादा पचास फ़ीसदी आरक्षण है। शेष 50-51 फ़ीसदी नौकरियाँ सामान्य श्रेणी यानी उच्च वर्ण (जिनकी हिस्सेदारी देश की पूरी आबादी में 25 फ़ीसदी के आसपास मानी जाती है) के युवाओं के लिए उपलब्ध हैं। पर वे नौकरियाँ इतनी कम हैं कि सामान्य हों या आरक्षित श्रेणी के लोग हों, उनके एक बहुत छोटे हिस्से को ही रोज़गार मिल पाता है।

दो अप्रैल, 2018 को जब दलित-आदिवासी स्थानीय संगठनों और व्यक्ति-समूहों के आह्वान पर एससी-एसटी एक्ट को कमज़ोर करने के ख़िलाफ़ भारत-बंद का आयोजन हुआ तो द्विज समुदाय के कुछ संगठनों की तरफ़ से इसका तीखा विरोध हुआ। बंद की प्रतिक्रिया में बंद कराने की कोशिश की गयी। उसके लिए तरह-तरह के ओबीसी संगठनों का नाम भी जोड़ा गया पर इस तरह के ओबीसी संगठनों ने सार्वजनिक बयान और सोशल मीडिया के ज़रिये साफ़ कर दिया कि वे द्विजों के भारत-बंद के साथ नहीं हैं। कोई बड़ी राजनीतिक पार्टी भी द्विजों के बंद के पक्ष में खुलकर सामने नहीं आयी पर हिंदुत्ववादी संगठनों के स्थानीय नेताओं को बंद के पक्ष में काम करते और बयान देते देखा-सुना गया। उनके कार्यकर्ता ही बंद का सांगठनिक प्रबंधन करते पाए गये। मथुरा-वृंदावन, बनारस, भोपाल-उज्जैन और जयपुर सहित कई स्थानों के चर्चित कथावाचकों और बाबाओं को भी एससी-एसटी एक्ट या पदोन्नति में आरक्षण के ख़िलाफ़ बोलते सुना गया। ऐसे मुखर लोगों में विश्व हिंदू परिषद और भाजपा के कार्यकर्ता भी शामिल रहे। इसी दौर में बहुत सारे लम्पट प्रवृत्ति के अपेक्षाकृत सम्पन्न लोगों को अपनी कार के पीछे के शीशे में हनुमान के रौद्र रूप की बिल्कुल नयी तस्वीर छपा कर ड्राइव करते देखा गया। कइयों ने तो कार के आगे या पीछे पुलिस या प्रेस की तरह ब्राह्मण या राजपूत लिखवाना शुरू कर दिया।

वी.पी.सिंह के दौर में ओबीसी को आरक्षण देने के शासकीय फ़ैसले के ख़िलाफ़ द्विजों ने जो आक्रामक गोलबंदी की थी, उसमें छात्र-युवाओं को आगे किया गया था। लेकिन इस दौर में ऐसा कोई संदर्भ नहीं है। किसी वर्ग या समुदाय को कुछ नया नहीं दिया गया है। जो पहले से मौजूद था, उसे छीनने की कोशिश की गयी या कमतर किया गया। दलित अगर हर साल की तरह भीमा-कोरेगाँव जा कर शांतिपूर्ण ढंग से श्रद्धांजलि कार्यक्रम करते हैं तो उस कार्यक्रम से लौटते दलितों पर हमला होता है। प्राथमिकी दर्ज होने के बावजूद हमलावरों और उनके संरक्षकों के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं होती, उलटे दलितों की धरपकड़ होती है। सिलसिला यहीं तक नहीं रुकता। उसी मामले से जोड़ कर दिल्ली, हैदराबाद, मुम्बई और राँची में जनपक्षी वकीलों और मानवाधिकारवादी बुद्धिजीवियों को हिरासत में ले लिया जाता है। देश के कुछ उच्च न्यायालयों से एससी-एसटी प्रिवेंशन ऑफ़ एट्रोसिटीज एक्ट-1989 को अपेक्षाकृत उदार बनाने या उसके प्रावधानों को कमज़ोर करने संबंधी फ़ैसला आता है। फिर उसे सुप्रीम कोर्ट की भी स्वीकृति मिल जाती है। फ़ैसला देने वाली सुप्रीम कोर्ट की बेंच के एक माननीय न्यायाधीश को सेवा-निवृत्ति के तत्काल बाद केंद्र सरकार की पहल पर एक अति-महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्राधिकरण का प्रभारी न्यायाधीश बनाया जाता है। एक्ट को चुनौती देने की पहल आल इण्डिया इक्वलिटी फ़ोरम सहित कुछ अन्य संस्थाओं के लोगों ने की। इस तरह के फ़ोरम या लोगों का देश में समानता के लिए अभियान चलाने का कोई इतिहास नहीं मिलेगा। पर उन्हें समाज में असमानता का सबसे बड़ा पहलू एससी-एसटी एक्ट में नज़र आता है। जिस देश में बलात्कार की शिकार सबसे अधिक दलित-आदिवासी महिलाएँ होती हैं, जहाँ की जेलों में रखे गये सबसे अधिक लोग दलित-आदिवासी या बहुजन हैं और जहाँ लक्ष्मणपुर बाथे, शंकरबिघा या बथानी टोला जैसे नृशंस हत्याकाण्डों के बावजूद दलितों की हत्या के सारे नामज़द अभियुक्त ऊपर की अदालत से बाइज़्ज़त रिहा हो जाते हैं। पता चलता है कि बिहार के इन हत्याकाण्डों में सौ से अधिक दलित मारे गये पर देश की अदालतों के फ़ैसले से यह विडम्बनापूर्ण सच सामने आता है कि इनका कोई हत्यारा

नहीं था। इन मारे गये दलितों के लिए कोई बड़ा अंग्रेज़ी अख़बार दिवंगत जेसिका लाल के हत्यारों के बरी होने के बाद अपनी पहले पेज की शानदार–धारदार लीड ख़बर में 'नो वन किल्ड जेसिका' जैसी हेडिंग भी नहीं लगाता। उप्र–बिहार–मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे प्रदेशों में आये दिन एससी–एसटी एक्ट, आरक्षण, मंदिर–मस्जिद या किसी जाति–विशेष की आन–बान–शान जैसे मुद्दों को छेड़ कर बहुत आसानी से जातिगत–गोलंबदी कर ली जाती है। ये वही सूबे हैं, जहाँ आज़ादी के बाद न तो सुसंगत भूमि–सुधार अभियान चलाया जा सका और न ही समाज–सुधार के बड़े आंदोलन हो सके। आज़ादी की लड़ाई के दौरान भी यहाँ समाज–सुधार के लिए कोई बड़ी पहल नहीं की जा सकी, क्योंकि राजनीतिक लड़ाई का नेतृत्व भी अमीर उच्चवर्णीय हिंदुओं के हाथ में था। उसमें सबाल्टर्न समाजों की हिस्सेदारी नगण्य थी। अगर कहीं हिस्सेदारी की माँग की गयी तो उसे निर्ममतापूर्वक दबा दिया गया, जैसा बिहार के त्रिवेणी संघ (1933–39) के मामले में देखा गया। आज़ादी के बाद लोगों को राजनीतिक बराबरी (एक व्यक्ति–एक वोट) तो मिल गयी पर व्यापक सामाजिक–आर्थिक ग़ैरबराबरी लगातार बरक़रार रही। हालात बदलने के लिए कुछ आधे–अधूरे राजनीतिक हस्तक्षेप ज़रूर हुए पर वे बहुत कारगर साबित नहीं हुए। वामपंथियों और समाजवादियों की विफलता ने हालात की जटिलता को और बढ़ाया।

ऐसे राजनीतिक परिदृश्य में निजी तौर पर लोगों के आज़ाद ढंग से जीने–खाने से लेकर शासकीय स्तर पर उठाए जाने वाले सकारात्मक कार्रवाई के मामूली क़दम भी सदियों से उत्पीड़क वर्ग या समुदायों को नाग़वार गुज़रते रहे। मध्य प्रदेश, राजस्थान या उत्तर प्रदेश के कुछ हलक़ों में किसी दलित दूल्हे का घोड़ी पर सवार होकर बारात निकालना भी एक अपराध बन जाता है। ऐसी मानसिकता को एससी–एसटी प्रिवेंशन ऑफ़ एट्रोसिटीज एक्ट भला कैसे पचेगा। 1989 के इस एक्ट के ख़िलाफ़ पहले भी द्विज समुदाय के कुछ उग्र हिस्सों ने आवाज़ें उठाई हैं। दरअसल, ऐसे मुद्दों को राजनीति में दाख़िल होने की सीढ़ी की तरह इस्तेमाल किये जाने की प्रवृत्ति बढ़ती रही है। हिंदुत्ववादी राजनीति ने इसे संगठित शह दी है। द्विजों की हर गोलबंदी के निशाने पर अमूमन दलित–ओबीसी या आरक्षण जैसे मुद्दे बनते रहे। *पद्मावत* के ख़िलाफ़ तलवार भाँजते करणी सेना के कथित वीर–बाँकुड़े दिल्ली–नोएडा स्थित न्यूज़ चैनलों के स्टुडियो में जब फ़िल्म के ख़िलाफ़ गर्जना कर रहे होते हैं तो बीच में वे आरक्षण के ख़िलाफ़ अपना विरोध दर्ज कराना नहीं भूलते। याद कीजिए, 2015 में बिहार विधानसभा चुनाव से ऐन पहले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक मोहन भागवत ने अपने एक इंटरव्यू के ज़रिये किस तरह आरक्षण की समीक्षा संबंधी अपने मंतव्य से माहौल को गरमा दिया था। प्रधानमंत्री मोदी और अमित शाह की जोड़ी के अथक प्रयास के बावजूद उस चुनाव में भाजपा को पुरी पराजय का सामना करना पड़ा। तब से भाजपा–संघ के बड़े नेता आरक्षण पर सँभल कर बोलते हैं और इसे जारी रखने के प्रति अपनी वचनबद्धता दोहराते हैं। लेकिन भाजपा–संघ के स्थानीय और ज़मीनी स्तर के नेताओं–कार्यकर्ताओं का रुख़ बिल्कुल ऐसा नहीं होता। दलित–आदिवासी या ओबीसी मामलों में आम तौर पर उनका रुख़ आक्रामक दिखता है।

अगर केंद्रीय गृह मंत्रालय के एनसीआरबी के अधिकृत आँकड़ों पर नज़र डालें तो भी इस बात की पुष्टि होती हैं। 2014 के बाद उत्तर और मध्य भारत के अधिकांश राज्यों में दलितों पर अत्याचार के मामले तेज़ी से बढ़े हैं। भाजपा–शासित मध्य प्रदेश (हाल ही में यहाँ सत्ता–परिवर्तन हुआ और 15 साल बाद कांग्रेस की सरकार बनी है) में इस तरह के अपराधों की दर में सबसे अधिक बढ़ोतरी हुई है, जबकिअपराधों की संख्या के मामले में भाजपा–शासित उप्र सबसे ऊपर है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ जनजातियों पर अत्याचार के मामले में भाजपा–शासित राजस्थान का रिकार्ड सबसे ख़राब रहा है। पूरे देश में अनूसूचित जातियों पर जितना अत्याचार/अपराध हो रहा है, उसका 12.1 फ़ीसदी अपराध सिर्फ़ मध्य प्रदेश में होता है। द्विजों द्वारा आयोजित भारत–बंद के दौरान भी सबसे अधिक

हिंसा और उपद्रव मध्य प्रदेश में ही हुआ, हालाँकि भाजपा ने वहाँ एकओबीसी समुदाय से आये नेता को मुख्यमंत्री बना रखा था। तत्कालीन मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान ने उन दिनों एक अचरज भरा ऐलान किया। एससी-एसटी एक्ट को कमज़ोर करने वाले सुप्रीम कोर्ट के विवादास्पद फ़ैसले के दलित-आदिवासियों में भारी विरोध के बाद सरकार ने कोर्ट के फ़ैसले को निरस्त करने के लिए संसद से संशोधन विधेयक पारित कराया। राष्ट्रपति द्वारा उसे अधिसूचित किया जा चुका है। इसके बावजूद मुख्यमंत्री चौहान ने द्विज, ख़ास कर मध्य प्रदेश की सामंती ब्राह्मण-ठाकुर लॉबी के तुष्टीकरण के लिए ऐलान किया कि मध्य प्रदेश में एससी-एसटी एक्ट के कठोर प्रावधानों को लागू नहीं किया जाएगा। प्रधानमंत्री या देश के दलित राष्ट्रपति से इस बाबत कोई टिप्पणी नहीं आयी। उत्तर या मध्य भारत स्थित कांग्रेस-भाजपा के शायद ही किसी नेता ने एनएसए, एस्मा, आफ्सपा या इसी तरह के दर्जन भर से ऊपर निरंकुश क़ानूनों के भारी दुरुपयोग पर कभी सवाल उठाया हो। पर एससी-एसटी एक्ट में उन्हें इसका चौतरफ़ा दुरुपयोग दिख रहा है।

2017-18 के दौरान, ख़ासकर अप्रैल से सितम्बर, 2018 के बीच उत्तर और मध्य भारत में द्विज-गोलबंदी की अगुवाई हर जगह ब्राह्मण समुदाय के लोगों ने की। आज के दौर में यह समुदाय भाजपा का सबसे मुखर समर्थकभी माना जाता है। उप्र में बीते एकसाल के दौरान पुलिस की कथित मुठभेड़ की जितनी घटनाएँ दर्ज की गयी हैं, उनमें मारे जाने वाले नब्बे फ़ीसदी से भी ज़्यादा दलित-बहुजन या अल्पसंख्यक समुदाय के लोग हैं। देश के लुंज-पुंज मानवाधिकार आयोग ने भी इस बारे में उप्र सरकार को नोटिस भेजा है। पर किसी द्विज मंच या फ़ोरम ने इसकी आलोचना नहीं की। बिहार, ख़ास कर मध्य बिहार में दलितों-उत्पीड़ितों के ख़िलाफ़ सक्रिय ज़्यादातर हथियारबंद निजी सेनाओं को भाजपा या कांग्रेस के कतिपय नेताओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन रहा है। *कोबरा पोस्ट* ने तो इस बारे में पूरी की पूरी एक फ़िल्म बनाई, जिसमें इन हत्यारी निजी सेनाओं के कथित द्विज-कमांडर खुले आम अपने संरक्षक नेताओं का नाम लेते देखे गये। पर कोर्ट या सरकारों की तरफ़ से इन पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। इसके उलट इनमें कुछेक नेता केंद्र की मौजूदा सरकार में भी जगह बनाने में कामयाब रहे। यह बात सही है कि मध्य बिहार की निजी सेनाएँ अब पहले की तरह दहशत और ख़ून-ख़राबा नहीं कर रही हैं। सम्भवत: इसका एक कारण ये भी है कि सत्ता के ज़रिये अब उनके वर्गीय और जातीय स्वार्थ स्वत: ही सम्बोधित हो रहे हैं।

इस तरह के उथल-पुथल भरे दौर में अन्य राजनीतिक दलों की दशा और दिशा भी हिंदुत्ववादी-द्विज एजेंडे को फ़ायदा पहुँचा रही है। सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी, जो आज भी अपने को गाँधी-नेहरू विरासत से जोड़ती रहती है, उस पर भी नयी राजनीतिक चुनौतियों का सामना करने के नाम पर हिंदुत्ववादी-द्विज एजेण्डा का दबाव साफ़ नज़र आता है। जैसे-जैसे चुनाव नज़दीक आ रहे हैं, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार और उत्तर प्रदेश में वह द्विज हिंदू समुदाय के तुष्टीकरण में जुटी नज़र आ रही हैं। मध्य प्रदेश कांग्रेस ने तो अपने चुनाव घोषणापत्र में बाक़ायदा गोशाला-निर्माण और गोवंश-रख-रखाव आदि को अपने वायदों की सूची में रखा है। कुछ समय पहले, कांग्रेस के मीडिया और प्रचार विभाग के सर्वोच्च पदाधिकारी और कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गाँधी के ख़ास राजनीतिक सलाहकार समझे जाने वाले रणदीप सुरजेवाला ने राजस्थान की एक जातीय-सभा में कहा : मत भूलिए कि कांग्रेस के ख़ून में ब्राह्मण का डीएनए है। मध्य प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष कमलनाथ ने एक जनसभा में ऐलान किया कि सूबे में अगर कांग्रेस की सरकार आयी तो वह हर ज़िले में एक-एक बड़ी गौशाला खोलेगी। यह कांग्रेस के सिर्फ़ चंद नेताओं की निजी पहल या प्रतिक्रिया नहीं है, जिसमें उनका ब्राह्मणवादी या हिंदुत्ववादी झुकाव साफ़ दिखाई देता है। गुजरात और कर्नाटक के चुनाव से लेकर अब तक कांग्रेसी सलाहकारों-रणनीतिकारों ने जिस तरह अपने युवा राष्ट्रीय अध्यक्ष का सार्वजनिक मंचों पर जनेऊ-प्रदर्शन किया या उनसे मंदिर-मंदिर परिक्रमा कराई और अंत में कर्नाटक चुनाव के

दौरान हेलीकॉप्टर की आशंकित-दुर्घटना से बचाने के लिए भगवान शिव का आभार प्रकट करने पिछले दिनों उनके निवास कैलाश-मानसरोवर भिजवाया, उससे कांग्रेस के हिंदू-द्विजों से नज़दीकी बनाने की ख़्वाहिश का ठोस संकेत मिलता है। पार्टी के रणनीतिकारों को लगता है, भाजपा की सोशल इंजीनियरिंग में ओबीसी आदि की बढ़ती हिस्सेदारी से नाराज़ हिंदू-द्विजों को पटा कर वे उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश आदि में अपने खोए हुए द्विज जनाधार का कुछ हिस्सा वापस ले सकते हैं। उन्हें इस बात का अंदाज़ नहीं कि अपने इस मुगालते के चलते हिंदू राष्ट्र हासिल करने के हिंदुत्ववादियों के रोडमैप की वे किस तरह मदद कर रहे हैं। शुरू में लगा था कि राहुल गाँधी की अगुवाई में कांग्रेस सचमुच अपने लिए नया रास्ता तलाश रही है। वह सेकुलर डेमोक्रेसी, समानता, बंधुत्व, सामाजिक न्याय और समाज में वैज्ञानिक सोच के विकास और विस्तार की राजनीति को अपना एजेण्डा बनाएगी। पर गुजरात चुनाव के बाद से ही कांग्रेस का द्विज-हिंदू झुकाव लगातार ज़ाहिर हो रहा है।

जहाँ तक संघ-भाजपा का सवाल है, वे अपने मंतव्य और रणनीति में सुसंगत नज़र आते हैं। वे इस बात को लेकर आश्वस्त हैं कि उनकी कथित सोशल इंजीनियरिंग से भ्रमित होकर द्विज-हिंदू समाज उनसे क़तई अलग नहीं होने वाला है। उनकी सोशल इंजीनियरिंग चुनावी रणनीति है, सामाजिक समावेशन की नीति नहीं। बीते चार सालों के अनुभवों से भी हिंदी पट्टी का द्विज-हिंदू संघ की नीति और भाजपा सरकार के बड़े फ़ैसलों से आमतौर पर संतुष्ट नज़र आता है। आरक्षण नीति को मौजूदा सरकार ने जिस चालाकी से बेमतलब बनाया है, उसका एक उदाहरण हिंदी पट्टी के तमाम विश्वविद्यालयों-महाविद्यालयों में भी देखा जा सकता है। नये रोस्टर के तहत नियुक्तियों से दलित-ओबीसी समाज के अध्यापकों की नियुक्तियाँ अचानक थम सी गयीं। इस सरकारी आश्वासन के बावजूद कि दलित-ओबीसी समुदायों के साथ ऐसा अन्याय नहीं होने दिया जाएगा, नयी रोस्टर प्रणाली का व्यवहार जारी रहा। जिस वक़्त मामला संसद में उठा और मानव संसाधन मंत्री को अन्याय रोकने संबंधी बयान देना पड़ा। बनारस, इलाहाबाद, गोरखपुर, भोपाल स्थित विश्वविद्यालयों-महाविद्यालयों में नये रोस्टर के तहत नियुक्तियाँ होती रहीं। इनमें विश्वविद्यालय या संस्थान के बजाय विभाग या केंद्र को इकाई मान कर रोस्टर तैयार किया गया। इससे आरक्षित सीटें स्वत: सिमट गयीं। अपेक्षाकृत ज़्यादा शिक्षित-दीक्षित होने के कारण द्विजों के बीच सरकार के इन क़दमों का ज़बर्दस्त असर पड़ा। उन्हें महसूस हुआ कि भाजपा-नीत सरकारें

अन्य राजनीतिक दलों की दशा और दिशा भी हिंदुत्ववादी-द्विज एजेंडे को फ़ायदा पहुँचा रही है। सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी, जो आज भी अपने को गाँधी-नेहरू विरासत से जोड़ती रहती है, उस पर भी नयी राजनीतिक चुनौतियों का सामना करने के नाम पर हिंदुत्ववादी-द्विज एजेण्डा का दबाव साफ़ नज़र आता है। जैसे-जैसे चुनाव नज़दीक आ रहे हैं, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार और उत्तर प्रदेश में वह द्विज हिंदू समुदाय के तुष्टीकरण में जुटी नज़र आ रही है। ... ... पार्टी के रणनीतिकारों को लगता है, भाजपा की सोशल इंजीनियरिंग में ओबीसी आदि की बढ़ती हिस्सेदारी से नाराज़ हिंदू-द्विजों को पटा कर वे उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश आदि में अपने खोए हुए द्विज जनाधार का कुछ हिस्सा वापस ले सकते हैं। उन्हें इस बात का अंदाज़ नहीं कि अपने इस मुगालते के चलते हिंदू राष्ट्र हासिल करने के हिंदुत्ववादियों के रोडमैप की वे किस तरह मदद कर रहे हैं।

उनके लिए जितना कहती हैं, उससे ज़्यादा करती हैं। भाजपा में द्विजों का भरोसा सिर्फ़ मंदिर–कमण्डल अभियान से नहीं पैदा हुआ। इसी तरह के ठोस सामाजिक–आर्थिक पहलुओं की भी भूमिका है जिनके चलते वह हिंदी पट्टी के द्विजों की सबसे भरोसेमंद और पसंदीदा पार्टी के रूप में उभरी है। उत्तर प्रदेश में जब से योगी आदित्यनाथ की अगुवाई में भाजपा सरकार सत्तारूढ़ हुई, अब तक नियुक्तियों से लेकर गिरफ़्तारियों तक एक ख़ास पैटर्न दिखता है।

संघ–भाजपा ने हिंदी पट्टी में अपने राजनीतिक विस्तार के लिए काफ़ी मेहनत की है। इसमें नौकरशाही और मीडिया से उन्हें काफ़ी मदद मिली है। मण्डल के बाद की कमण्डल–राजनीति से उन्होंने कांग्रेस से उसका द्विज–मुस्लिम जनाधार छीना था। बीते डेढ़–दो दशकों से हिंदुत्ववादी नेतृत्व बड़ी चतुराई से मण्डलवादी राजनीतिक पार्टियों से निपटने में जुटा रहा है। उत्तर भारत के द्विज समुदायों के बीच सर्वाधिक घृणा के पात्र माने जाने वाले लालू प्रसाद को केंद्रीय एजेंसियों की तरफ़ से हुई शासकीय/न्यायिक घेरेबंदी के बाद जेल जाना पड़ा। लगभग समान धाराओं और आरोपों के बावजूद पूर्व मुख्यमंत्री डॉ. जगन्नाथ मिश्र जमानत पा कर बाहर रहने में सफल हुए। कम दिलचस्प नहीं कि उत्तर और मध्य भारत में भ्रष्टाचार के मामले में सिर्फ़ पाँच प्रमुख नेता जेल भेजे गये : लालू प्रसाद, ओम प्रकाश चौटाला, छगन भुजबल, रशीद मसूद और मधु कोड़ा। ये सभी सबाल्टर्न समाजों से आते हैं। सुखराम के अलावा शायद ही किसी द्विज हिंदू समुदाय से आये राजनेता पर भ्रष्टाचार का कोई भी आरोप चस्पाँ हुआ। वे भी जल्दी ही छूट गये और अब हिमाचल में भाजपा की मित्र–शक्ति बन कर सपरिवार सकुशल हैं। उनके पुत्र अनिल शर्मा हिमाचल कैबिनट में मंत्री हैं।

उत्तर प्रदेश में पिछड़ों के बड़े नेता रहे मुलायम सिंह यादव पिछले दो–तीन सालों से भाजपा के आगे लगभग नतमस्तक हैं। उनके और उनके परिवार के कई सदस्यों के ख़िलाफ़ भ्रष्टाचार की कई शिकायतें विभिन्न जाँच एजेंसियों के पास लम्बित बताई जाती हैं। उत्तर प्रदेश के पिछले विधानसभा चुनाव के दौरान जिस तरह उन्होंने स्वयं अपनी ही पार्टी के चुनाव अभियान का नाटकीय ढंग से सत्यानाश किया, वह अनोखी घटना थी। किसी बाहरी–इशारे या दबाव के बग़ैर ऐसा आत्मघाती क़दम कोई भी राजनीतिज्ञ नहीं उठा सकता। नतीजतन, भाजपा को विधानसभा चुनाव में आशातीत सफलता मिली। इधर, उनके छोटे भाई शिवपाल ने सपा से अलग होकर नयी पार्टी बना ली है। एक समय, उत्तर प्रदेश और बिहार में भाजपा–संघ की हिंदुत्ववादी राजनीति का मुक़ाबला मध्यवर्ती और दलित–ओबीसी जातियों के आधार वाली पार्टियों ने ही किया था। भ्रष्टाचार के मामलों में घिरे लालू के जेल जाने और मुलायम के संघ–भाजपा के प्रति मुलायमियत दर्शाने के बाद अब दोनों नेताओं के बेटे क्रमश: तेजस्वी और अखिलेश द्विज–हिंदुत्व आक्रामकता से अपने जनाधार को बचाने की कोशिश करते नज़र आ रहे हैं। तेजस्वी का बिहार में वामपंथियों, जीतन राम मांझी के हिंदुस्तानी अवाम मोर्चा और कुछ अन्य संगठनों के साथ मोर्चा बनाने की पहल को इसी रूप में देखा जाना चाहिए। उत्तर प्रदेश में अखिलेश हर क़ीमत पर मायावती की बसपा से गठबंधन चाहते हैं, जबकि मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में मायावती ने हिंदुत्ववादी भाजपा के ख़िलाफ़ कांग्रेस के साथ जाने से लगभग इंकार कर दिया। वह भी केंद्रीय एजेंसियों की मार्फत केंद्रीय नेताओं के दबाव में बताई जाती हैं।

उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में विगत काफ़ी समय से एक नागरिक समाज के विकास के बजाय जातिगत–शत्रुता आधारित एक अजीब क़िस्म का अंतर्विरोधी समाज विकसित होता रहा है। मायावती के राज में द्विजों के बड़े हिस्से को लगता रहा कि वे सिर्फ़ दलितों के लिए काम करती हैं और उनकी उपेक्षा करती हैं। मायावती ने द्विजों की इस नाराजगी को फ़ौरन सम्बोधित भी किया। अपने ख़ास सलाहकार सतीश चंद्र मिश्रा के ज़रिये उन्होंने उत्तर प्रदेश में जगह–जगह ब्राह्मण सम्मेलन कराने शुरू किये। चुनावी राजनीति में अपनी पकड़ मज़बूत करने के लिए बसपा ने बहुजन के स्थान पर सर्वजन का नारा लगाना शुरू किया। कुछ ऐसा ही हाल मुलायम सिंह यादव या अखिलेश यादव की सरकारों

के दौर में देखा गया। समाजवादी पार्टी ने अपने शासन में द्विजों की नाराज़गी को संबोधित करने के लिए न सिर्फ़ त्रिस्तरीय आरक्षण फ़ार्मूले को ख़त्म किया अपितु प्रांतीय लोकसेवा आयोग के तत्कालीन सचिव अनिल यादव को पदच्युत भी किया। मुलायम और मायावती ने द्विजों, ख़ास कर ब्राह्मणों के तुष्टीकरण (इस शब्द को चलन में लाने के लिए संघ-भाजपा का आभार प्रकट करना ज़रूरी) के लिए यह आश्वासन तक दिया कि वे जल्दी ही द्विजों को आरक्षण देंगे। यह जानते हुए भी कि उनका ऐसा ऐलान असंवैधानिक होगा, दोनों दलों ने बार-बार इस आशय का ऐलान किया। मायावती तो अभी भी आये दिन इस ऐलान को दोहराती रहती हैं। इसकी वजह जानने के लिए उत्तर प्रदेश के सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य की ख़ास विशिष्टता को समझना ज़रूरी है। एक ग़ैर-सरकारी आकलन के मुताबिक़ हिमाचल और उत्तराखण्ड के बाद उत्तर प्रदेश वह तीसरा और देश का सबसे बड़ा राज्य है, जहाँ द्विजों, ख़ासकर ब्रह्मणों की आबादी दहाई में है। उत्तर प्रदेश में प्रशासनिक, न्यायिक, बौद्धिक-सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्र में उनका दबदबा आज भी क़ायम है। ओबीसी में भारी बिखराव है। उनका कोई एकल राजनीतिक मंच नहीं है और न ही उनमें एक तरह की राजनीतिक दिशा है। भाजपा ने अपनी सोशल इंजीनियरिंग से ओबीसी की कुशवाहा-मौर्य और राजभर जैसी जातियों को अपने साथ जोड़ने में कामयाबी हासिल की है। दलित ले-दे कर बसपा के साथ हैं। यह सामाजिक परिदृश्य संघ-भाजपा की द्विज-हिंदुत्व राजनीति के लिए फ़िलहाल मुफ़ीद है। पर दलित-ओबीसी-मुस्लिम सामाजिक गठबंधन, जो सपा-बसपा के राजनीतिक गठजोड़ से पुख़्ता हो सकता है, अगर अगले लोकसभा चुनाव में असलियत बना तो संघ-भाजपा के लिए मुसीबत बढ़ेगी और उनके द्विज-हिंदुत्व राजनीतिक एजेंडे को फ़ौरी चुनौती पैदा हो सकती है। मायावती और अखिलेश, दोनों भले ही बहुत भरोसेमंद और सुसंगत सोच के राजनेता न हों, पर दोनों के सामाजिक आधार का दबाव उन्हें भाजपा के द्विज-हिंदुत्व एजेंडे के ख़िलाफ़ एकजुट होने के लिए मजबूर कर सकता है। पर इस बात को याद रखा जाना चाहिए कि उत्तर और मध्य भारत में संघ-भाजपा के द्विज-हिंदुत्व राजनीतिक एजेंडे के ख़िलाफ़ फ़िलहाल वैचारिक स्तर पर एक जनपक्षी, सुसंगत और ठोस राजनीतिक धारा या मंच नहीं दिखाई देता।

(उर्मिलेश के इस लेख का अंग्रेज़ी अनुवाद *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* (खण्ड 53, अंक 26) में 'पोर्टेंट्स ऑफ़ द अपर-कास्ट पॉलिटिकल मोबिलाइज़ेशन' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है।)